

खुली प्रतिस्पर्धा से ही शिक्षा व्यवस्था में सुधार संभव

पार्थ जे. शाह से विश्वंभर की
बातचीत

लेखक परिचय :

बडौदा यूनिवर्सिटी से बी.फार्मा, अर्थशास्त्र में
ऑबर्न यूनिवर्सिटी, संयुक्त राज्य अमेरिका से
पीएचडी, दिल्ली स्थित संस्था 'सेन्टर फोर सिविल
सोसाइटी' के संस्थापक अध्यक्ष।

सम्पर्क :

के-36, हॉज खास एनक्लेव,
नई दिल्ली - 110016
ईमेल : ccs@ccs.in

प्रश्न : आजकल शैक्षिक विमर्श में सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार बहु-चर्चित और विवादित है। सार्वजनिक-निजी साझेदारी के बारे में दोनों तरह के, पक्ष और विपक्ष में, विचार आ रहे हैं। आपने जिस योजना आयोग के अस्तित्व पर सवाल उठाए हैं वह भी इसकी पैरवी कर रहा है। हम अपनी बातचीत की शुरुआत यहीं से करते हैं कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार क्या है ? इसे प्रस्तावित करने के पीछे तर्क क्या हैं ?

उत्तर : मेरे ख्याल में, पिछले 15-20 साल में एक नया विषय-‘न्यू पब्लिक मैनेजमेंट’(एनपीएम)-विकसित हुआ है। यह विषय व्यवसाय प्रबंधन (बिजनेस मैनेजमेंट) और लोक प्रशासन (पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन) के मेल से आरंभ हुआ है। पहले, और अभी भी, इन दोनों को अलग-अलग क्षेत्र माना जाता था। लेकिन लोगों ने सोचा की सरकार जिन कम्पनियों को चला रही है, जैसे कि इण्डियन ऑयल कॉरपोरेशन, यह कम्पनी एक उत्पाद बनाकर लोगों को दे रही है। दूसरी तरफ निजी कम्पनी हैं जैसे कि रिलायन्स ऑयल कॉरपोरेशन, यह मुनाफे के लिए काम कर रही है और यह भी एक उत्पाद तैयार करके लोगों को दे रही है। इसमें से एक लोक प्रशासन के सिद्धान्तों पर और दूसरी व्यवसाय प्रबंधन के सिद्धान्तों पर काम करती है। लोगों ने सोचा कि जब दोनों ही कम्पनी एक-सा काम कर रही हैं तो इनके प्रबंधन के तरीकों में अन्तर क्यों है ? इनमें फर्क यह है कि एक मुनाफे के लिए काम कर रही है जबकि दूसरी शायद मुनाफे के लिए काम नहीं कर रही है। लेकिन दोनों में प्रबंधन के सिद्धान्त-काम करने के तरीके, कर्मचारियों को प्रबंधित करने के तरीके, ग्राहकों को सेवा प्रदान करने के तरीके आदि-आदि-तो समान ही हैं। इसके मूल सिद्धान्त की एक खास बात यह है कि जहां-जहां प्रतिस्पर्धा हो सकती है, वहां प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था खड़ी करना महत्वपूर्ण है।

किन्हीं भी चीजों पर एकाधिकार हमेशा ही खराब होता है और यह नागरिकों और उपभोक्ताओं के लिए अच्छा नहीं होता। चाहे फिर वह सरकार का एकाधिकार हो या किसी निजी संस्थान का। एकाधिकार की समस्या को लेकर ही सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार आया है कि जहां-जहां सरकार का एकाधिकार बना हुआ है उसे बाहर किया जाए। कुछ मसले जैसे कि प्रतिरक्षा, प्रतिरक्षा पर कितना पैसा खर्च करना है, कितनी तोपें खरीदनी हैं आदि-आदि तय करने का काम तो सरकार ही करेगी लेकिन प्रतिरक्षा के उपकरण बनाने का काम सरकार को करने की जरूरत नहीं है। ये काम निजी क्षेत्र ज्यादा कुशलता से कर सकता है। वर्तमान में प्रतिरक्षा के उपकरण बनाने का काम मुख्यतः निजीकृत है, यहां तक कि सैनिकों की वर्दी निजी कम्पनियों से बनकर आती है। यह विचार प्रतिरक्षा में अनेक वर्षों से चल रहा है। अतः इस विचार को अन्य क्षेत्रों में क्यों लागू नहीं किया जा सकता ?

सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार को एयर लाइन्स में लागू किया गया। पहले इंडियन एयर लाइन्स सरकारी कम्पनी थी और इस क्षेत्र में इसका एकाधिकार था।

इस क्षेत्र में निजी कम्पनियों को अनुमति दी गई। इसका दूसरा उदाहरण दूर संचार का है। अब कोई भी निजी कम्पनी आकर अपनी सेवाएं दे सकती है।

सार्वजनिक-निजी साझेदारी का यही सिद्धान्त अब स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में भी आ रहा है। यह विचार अचानक नहीं आया। इस पर काफी बहस और विचार विमर्श हुआ है। जहां सार्वजनिक-निजी साझेदारी का विचार लागू किया गया वहां इसे लेकर लोग संदेहशील थे कि पता नहीं क्या और कैसे होगा ? लेकिन यह देखा गया कि अन्ततः हर जगह इसने काम किया है। इसके उदाहरण संचार विभाग, एयर लाइन्स, सड़क निर्माण और यहां तक कि बंदरगाह निर्माण में देखे जा सकते हैं। अभी गुजरात में जितने भी बंदरगाह बन रहे हैं उन्हें निजी कम्पनियां ही बना रही हैं। इसके लिए सरकार पैसा देती है और निजी कम्पनी बनाने और रख रखाव का काम करती हैं। अतः यह कोई नया और क्रान्तिकारी विचार नहीं है। दुनिया भर में इस विचार के तहत काम हो रहा है।

अभी सार्वजनिक-निजी साझेदारी के विचार को शिक्षा के क्षेत्र में लागू करने पर यह सवाल खड़ा हो रहा है कि यह सही है या नहीं। मैंने इसके बुनियादी सिद्धान्त-सरकारी या निजी एकाधिकार को खत्म करने की बात की है। एकाधिकार कोई परंपरा नहीं है। मैं सोचता हूं कि यह सिद्धान्त शिक्षा में भी लागू होना चाहिए। शिक्षा में एकाधिकार से हमें कोई फायदा होने वाला नहीं है। अभी तक यह मान्यता रही है कि सरकार ही सभी स्कूल चलाएगी, पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली तय करेगी। शिक्षा में एकरूपता लाने का विचार है कि सरकार ही सभी को समान गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करेगी। लेकिन सही मायने में यह सोच हम कहीं भी लागू नहीं कर पाए हैं।

उदाहरण के लिए, अमेरिका में करीब सौ साल पहले समान स्कूल प्रणाली लागू की गई। वहां बच्चों के माता-पिता के पास स्कूल के चयन की स्वतंत्रता नहीं थी। वहां अपने बच्चों को पढ़ास के स्कूल में ही भेजना होता था। जब वहां माता-पिता से स्कूल चयन की स्वतंत्रता छीन ली गई तो उन्होंने अपना पढ़ास चुनने की स्वतंत्रता अपनाई। बच्चों के माता-पिता ने जहां अच्छा स्कूल था वहां रहना चुना। अमेरिका में स्कूल के माध्यम से अलगाव खत्म करने की कोशिश की गई लेकिन वह अलगाव रहने की जगह से शुरू हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धनिक लोग अच्छे स्कूलों के इर्दगिर्द इकट्ठे हो गए और गरीब लोग उन्हीं जगहों पर रह गए जहां कि स्कूल अच्छे नहीं थे। अमेरिका में भी समान स्कूल प्रणाली ठीक ढंग से नहीं चल पाई। फिर यह विचार आया कि स्कूलों को कैसे सुधारा जाए ? इसीलिए वहां सार्वजनिक-निजी साझेदारी का मॉडल आया और यह मॉडल चार्टर स्कूल का है। स्कूल तो सार्वजनिक ही

रहेंगे, पैसा भी सरकार ही देगी लेकिन उसका प्रबंधन और काम करने वाले लोग सीधे शिक्षा विभाग के प्रति जवाबदेह नहीं होंगे। इसके कुछ नियम होते हैं और इन नियमों के तहत ही स्कूल संचालित करना होता है। फिर भी इन स्कूलों को बहुत हद तक स्वायत्ता और स्वतंत्रता है। वहां पर बहुत से सरकारी शिक्षकों ने चार्टर स्कूल शुरू किए हैं। यह सार्वजनिक-निजी साझेदारी का एक रूप है।

हमारी सोच है और भारत में हमें इससे एक कदम आगे जाना चाहिए। हम इसके लिए 'स्कूल चॉइस केम्पेन' के माध्यम से काम भी कर रहे हैं। भारत में ऐसी स्थिति बनाई जानी चाहिए कि हर स्कूल, फिर चाहे वह सरकारी हो या निजी, माता-पिता के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। हमारा सिद्धान्त है, जो कि न्यू पब्लिक मेनेजमेन्ट का भी सिद्धान्त है कि, सभी व्यवसाय उपभोक्ताओं के प्रति जवाबदेह होने चाहिए। निजी क्षेत्र में यदि कोई चीज ठीक नहीं है तो उसे दूसरी जगह से खरीदा जा सकता है। हमारे देश में जिनके पास पैसा है उनके लिए यह सिद्धान्त आज भी लागू हो रहा है। वे अपने बच्चों के लिए स्कूल का चुनाव कर रहे हैं और क्योंकि वे पैसा दे रहे हैं इसलिए निजी स्कूल भी उनके प्रति जवाबदेह हैं। लेकिन सरकारी स्कूलों में यह जवाबदेही नहीं है क्योंकि सरकारी स्कूलों के लिए पैसा माता-पिता से न आकर सरकार या शिक्षा विभाग की माफत आता है। सभी जानते हैं कि सरकारी स्कूल में बच्चे के माता-पिता प्रवेश नहीं कर सकते। हमारे पीछे एक सरकारी स्कूल है जिसमें कि हमारे यहां काम करने वाले के बच्चे जाते हैं। जब वे प्रिंसिपल से मिलने जाते हैं तो चौकीदार उन्हें रोक देता है। जवाबदेही की बात तो दूर रही यहां तक कि आप स्कूल में प्रिंसिपल या शिक्षक से बात करने के लिए भी प्रवेश नहीं कर सकते। हम लोग यह सोच रहे हैं कि सरकारी स्कूलों को माता-पिता के प्रति जवाबदेह कैसे बनाया जाए। यह सार्वजनिक-निजी साझेदारी में वाउचर व्यवस्था के माध्यम से संभव है। जिस तरह अमेरिका में चार्टर स्कूल हैं उसी तरह कई देशों में वाउचर पद्धति चल रही है। जैसे कि स्वीडन में, वहां भी यही सोचा गया कि स्कूलों को शिक्षा की नौकरशाही के बजाए माता-पिता के प्रति कैसे जवाबदेह बनाया जाए।

वाउचर व्यवस्था के तर्क यही है कि सरकार जितना पैसा सरकारी स्कूलों पर खर्च करती है उसे वाउचर के रूप में गरीब मां-बाप के हाथ में दे। गरीब मां-बाप उस वाउचर से तय करेंगे कि उनके बच्चे को किस स्कूल में जाना है। उस वाउचर का पैसा सरकार से उस स्कूल को मिल जाएगा। इस वाउचर की राशि सरकार का प्रति बच्चे पर प्रति वर्ष खर्च के हिसाब से तय हो सकती है। जिस तरह निजी स्कूल माता-पिता के प्रति जवाबदेह हैं उसी तरह वाउचर से सरकारी स्कूल भी माता-पिता के प्रति जवाबदेह हो जाएंगे। यदि माता-पिता

संतुष्ट नहीं हैं तो वे उस वाउचर को लेकर कहीं और भी जा सकते हैं। हमने एकाधिकार के जिस सिद्धान्त की बात की है उसमें गरीब माता-पिता के पास एक ही जगह है, वह है सरकारी स्कूल। पूरे देश में सरकारी स्कूल गरीब बच्चों को शिक्षा देने का एकाधिकारी हो गया है। जिसका भी एकाधिकार होता है वह सिर्फ अपने हित देखता है, उपभोक्ताओं के नहीं। वस्तुतः यही हमारे यहां शिक्षा के क्षेत्र में हो रहा है। अभी एक सर्वे हुआ था जिससे पता चला था कि करीब 40 प्रतिशत शिक्षक स्कूल कार्य दिवसों में अनुपस्थित रहते हैं। और जो आते भी हैं उनमें से वास्तव में आधे बच्चों के साथ काम नहीं करके किन्हीं और ही कामों में व्यस्त रहते हैं। सरकारी स्कूलों के बारे में जवाबदेही या शिक्षा की गुणवत्ता या भ्रष्टाचार की बात होती है, ये सभी बातें अप्रभावी हो चुकी व्यवस्था के लक्षण हैं। और यह गरीब बच्चों की शिक्षा पर सरकारी एकाधिकार का ही परिणाम है। यदि यह एकाधिकार खत्म करना है तो वाउचर व्यवस्था इसका एक तरीका हो सकता है। हर स्कूल में दो तरह के विद्यार्थी होंगे। एक जो अपना पैसा देंगे और दूसरे जो कि वाउचर से भुगतान करेंगे। स्कूल का राजस्व इन दोनों आय के साधनों पर निर्भर करेगा और स्कूल दोनों के प्रति जवाबदेह होगा।

प्रश्न : शिक्षा में आपने प्रबंधन के सिद्धान्त को लागू करने की बात की है। मूलतः यह स्कूलों के प्रबंधन को बेहतर बनाने के संदर्भ में है। लेकिन मूल सवाल स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता का है। एक सवाल यह उठता है कि शिक्षा की गुणवत्ता को कैसे समझा जाए? इसके सूचक क्या होंगे ? कब यह कहा जाएगा कि यह स्कूल गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दे रहा है या नहीं दे रहा है ?

उत्तर : हम लोग भी इस सवाल पर काफी चर्चा करते रहे हैं। लेकिन इसका जवाब मुझे उड़ीसा में हमारे एक कैम्पेन में मिला। हमें वहां सरकारी या निजी स्कूलों की मोनिटरिंग और रिपोर्ट कार्ड बनाने के लिए नागरिक समूह का गठन करना था। ताकि इन स्कूलों पर दबाव बनाया जा सके। वहां सवाल आया कि ये समूह क्या मोनिटर करेंगे? शिक्षा की गुणवत्ता पर शिक्षाविद् बहुत बहस कर रहे हैं कि शिक्षा की गुणवत्ता के मायने क्या हैं और इसके मापक क्या हैं ? लेकिन अभी तक साझा सहमति नहीं बन पाई है। मुझे लगता है कि इस पर कभी सहमति हो भी नहीं सकती। यह व्यर्थ की आशा है कि सभी मिलकर किन्हीं साझे मापदण्डों पर पहुंच पाएंगे। जैसे कि सभी व्यक्ति सेलफोन की गुणवत्ता को लेकर एकमत नहीं हो सकते क्योंकि सभी अपनी पसंद से सेलफोन खरीदना पसंद करते हैं। वहां लोगों ने हमें बताया कि आप बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हैं कि परीक्षा का परिणाम कितना आएगा या नागरिक शिक्षा कितनी हो रही है, आदि-आदि। हर व्यक्ति समाज में अपने बच्चों के स्थान के प्रति

सचेत होता है, जो कि शिक्षा का एक उद्देश्य भी है। राष्ट्रीय लक्ष्यों और जरूरतों आदि के अनुरूप शिक्षा की बातें बड़ी-बड़ी बातें हैं।

हमारे लिए शिक्षा की गुणवत्ता का बहुत ही सीधा मापदण्ड है कि शिक्षक स्कूल आ रहा है या नहीं। वह क्या पढ़ाता है, पाठ्यक्रम का इस्तेमाल करता है या नहीं, पाठ्यपुस्तकें काम में लेता है या नहीं; ये सब दूर की बातें हैं। पहली बात तो यही है कि वह स्कूल आ भी रहा है कि नहीं और यदि आ रहा है तो पढ़ा रहा है या नहीं। हमें यह समझ आता है कि शिक्षा की गुणवत्ता की बहस, जिसमें कि डॉ. कृष्ण कुमार या हमारे जैसे लोग जुटे हुए हैं, वह जमीनी हकीकत से बहुत दूर है। यदि शिक्षक आ ही नहीं रहे हैं तो यह सवाल ही नहीं पैदा होता कि शिक्षक क्या पढ़ाए। मेरे लिए यह बहस आंखें खोलने वाली थी। मैं यह समझने के लिए बहुत उत्साहित था कि शिक्षा की गुणवत्ता क्या है, कि कुछ ऐसे मानदण्ड निर्धारित हों जो कि मापन योग्य और वस्तुनिष्ठ हों। हमें लगता है कि यह तय करना असंभव-सा काम है। लेकिन उन्होंने बताया कि हमारे लिए गुणवत्ता के मायने हैं कि शिक्षक आ रहा है या नहीं। यदि कोई शिक्षक स्कूल के 200 कार्य दिवसों में से 160 दिन आया है तो यह हमारे लिए शिक्षा की गुणवत्ता होगी। यदि वह 160 दिन में से 150 दिन पढ़ा रहा है तो यह भी गुणवत्ता का सूचक है और मैं इससे सहमत हूँ। हमें कुछ बुनियादी सूचकों को परिभाषित करना चाहिए कि शिक्षक आया कि नहीं या पढ़ाया कि नहीं या कक्षा में सहायक शिक्षण सामग्री है कि नहीं या स्कूलों में पीने का पानी है या नहीं आदि-आदि। ये कुछ मूलभूत चीजें हैं जो कि होनी चाहिए। इसमें इस तरह की कुछ और चीजें भी जोड़ी जा सकती हैं। हम ऐसी मूलभूत और न्यूनतम चीजों पर सहमति बना सकते हैं जो कि शिक्षा की गुणवत्ता को परिभाषित करती हैं।

यदि शिक्षा की गुणवत्ता को जटिलता के साथ परिभाषित किया जाएगा तो बच्चों को पढ़ाने के लिए हमारे जैसे योग्य लोगों की आवश्यकता होगी। और सभी शिक्षक कभी ऐसे हो नहीं सकते। यदि हम इसे सरल तरीके से परिभाषित करते हैं तो गांव के लोग भी इसे जांच सकते हैं। यदि इसे हम यथार्थवादी तरीके से देखें तो यह इतना जटिल है नहीं।

प्रश्न : अभी तक आपने कहा कि शाला प्रबंधन माता-पिता के प्रति जवाबदेह हो। आपने एकाधिकार खत्म करने के लिए स्कूलों के विकल्प की भी बात की है। आपको पता होगा कि इंडिया टुडे में एक कवर स्टोरी थी जिसमें कि कुछ नामी निजी स्कूलों में बच्चों के सीखने के स्तरों संबंधित जानकारी दी गई थी। वास्तव में आपके बताए मानदण्डों को पूरा करते हुए जो स्कूल चल रहे हैं वहां भी बच्चों के सीखने से संबंधित समस्याएं हैं, शिक्षा की गुणवत्ता संबंधी

समस्याएं वहां भी हैं। गुणवत्ता के कुछ मानक तय किए जा सकते हैं जो कि जटिल नहीं हैं लेकिन बच्चों के सीखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जैसे कि शिक्षक-बालक संबंध कैसे हैं और इस पर शिक्षा की गुणवत्ता बहुत निर्भर करती है। शिक्षक पढ़ाने के कौनसे तरीके इस्तेमाल कर रहा है आदि-आदि। ये शिक्षा की गुणवत्ता के मुख्य मुद्दे हो सकते हैं। यदि इनको हटाकर शिक्षा की गुणवत्ता को सरलीकृत तरीके से देखेंगे तो मुझे लगता है कि एक स्कूल प्रबंधन के नजरिए से तो चलेगा लेकिन वास्तविक अर्थों में वहां पर भी गुणवत्ता नहीं होगी। जिस तरह आपने शिक्षा की गुणवत्ता को परिभाषित किया है, यदि इसी तरह शिक्षा की गुणवत्ता को परिभाषित किया जाएगा तो क्या शिक्षा की समाज में जो भूमिका है उसे स्कूल पूरा कर पाएगा ? एक सवाल यह भी है कि हम शिक्षा के माध्यम से चाहते क्या हैं ? यदि इन सवालों को दूर रखकर हम शिक्षा की गुणवत्ता की बात करेंगे तो क्या आपको नहीं लगता कि इसमें हम कोई गड़बड़ी कर रहे होंगे ?

उत्तर : पहली बात तो मैं यह कहना चाहूंगा कि इस बात पर सहमति नहीं है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा क्या है। यदि आप 50 लोगों से पूछेंगे तो आपको 100 मत मिलेंगे। इस पर सहमति बहुत ही मुश्किल है।

प्रश्न : लेकिन इस बात पर तो साझी सहमति हो ही सकती है कि यदि आप बच्चे को प्रेम से पढ़ाओगे तो बच्चा बेहतर तरीके से सीखेगा।

उत्तर : लेकिन प्रेम क्या चीज है ? यही एक बड़ा सवाल हो गया न। कभी-कभी लोग यह मानते हैं कि डण्डा लगा दिया तो भी ठीक है, यह भी प्रेम की ही बात है। डण्डा लगाते ही थे पहले और अब भी कभी-कभी लगाते ही हैं। अब हम मानते हैं कि डण्डा नहीं लगाना चाहिए। प्रेम इतनी आसान चीज नहीं है जिसको परिभाषित किया जा सके। हमने शिक्षक को एक वाक्य रूप में यह बता दिया लेकिन जब हम कक्षा में जाते हैं और वहां देखते हैं तो यह कैसे देखेंगे कि वहां प्रेम है कि नहीं है, इसको कौन तय करेगा ?

प्रश्न : लेकिन यह बात तो जाहिर है कि अगर कोई शिक्षक बच्चों को पीटेगा या धमकाएगा तो बच्चे के मन जो प्रभाव पड़ेगा वह शिक्षा से अलगाव पैदा करेगा और बच्चे पर नकारात्मक प्रभाव छोड़ेगा।

उत्तर : इसे परिभाषित करना वैसा ही है जैसे कि अश्लील और पोर्नोग्राफी के बीच के भेद को परिभाषित करना। इसकी कोई परिभाषा नहीं है। आप जिसे पोर्नोग्राफी कहेंगे कोई उसे सेक्स एज्युकेशन कह सकता है। इस पर किसी तरह की सहमति बनने वाली नहीं है। यह एक धुंधलका भरा क्षेत्र है जिसमें अलग-अलग जगह पर बैठे व्यक्ति अपनी राय दे रहे हैं।

फैक्ट्री में माल तैयार करने का जो मॉडल पहले था वह अभी शिक्षा में चल रहा है कि स्कूल एक फैक्ट्री है और बच्चे कच्चा माल हैं। वे स्कूल में आए और अन्त में एक उत्पाद बनकर तैयार हो गए। अभी तक हम यह बहस कर रहे हैं कि स्कूल आने के 7 या 8 या 12 साल बाद वह उत्पाद कैसा होना चाहिए। ये एक जैसा ही माल तैयार करने का मॉडल है। लेकिन हम चाहते हैं कि हर बच्चे के लिए यह अलग किस्म का होना चाहिए। जब तक हम फैक्ट्री मॉडल की बात करेंगे तब तक यह सवाल रहेगा ही कि गुणवत्ता क्या है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि हमारे जितने भी निजी स्कूल हैं, दून विद्यालय सहित, वे कोई बहुत अच्छे स्कूल नहीं हैं। हमें बेहतर शिक्षा के लिए लम्बे रास्ते को तय करना है। निजी स्कूलों में थोड़ी जवाबदेही जरूर है।

मेरी एक राय है कि हमने जो परीक्षा प्रणाली तय की है कि जीवन का सब कुछ एक परीक्षा से तय होगा, यह व्यवस्था ही ऐसी है कि आप कैसे भी शिक्षक ले जाएं, हरेक व्यक्ति यही चाहता है कि वह अन्ततः बोर्ड की परीक्षा में अच्छे परिणाम लाए। जीवन और स्कूल का लक्ष्य यही हो गया है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी तब तक परिणाम वही रहेगा। यह थोड़ा-सा क्रान्तिकारी विचार है लेकिन मैं तो मानता हूँ कि बोर्ड की परीक्षा को खत्म कर देना चाहिए।

प्रश्न : आपने कहा कि स्कूलों का प्रबंधन निजी हो और दूसरी तरफ कहा कि स्कूल माता-पिता के प्रति जवाबदेह हों। क्या यह सामुदायिक भागीदारी का विचार है ? क्या इन दोनों अवधारणाओं को एक तरह से देखा जाना चाहिए ?

उत्तर : एक हो सकते हैं।

प्रश्न : लेकिन निजी प्रबंधन में यह संभावना है कि वह बाहरी दखल को पसंद नहीं करें क्योंकि प्रबंधन की उनकी अपनी व्यवस्था होती है और सामुदायिक प्रबंधन में यह निहित होता है कि व्यवस्था को सामुदायिक स्वामित्व की तरफ ले जाएं। मुझे लगता है कि इन दोनों को अलग करके देखा जाना चाहिए।

उत्तर : आजकल जो भी निजी स्कूल चल रहे हैं जैसे कि बसंत वैली या डीपीएस, वहां पर पेरेन्ट टीचर एसोशियसन्स काफी सक्रिय होती हैं। दो-तीन स्कूल यहां ऐसे भी हैं जिन्हें बच्चों के माता-पिता ही चलाते हैं। प्रिंसीपल का वहां ज्यादा दखल नहीं होता। वहां बच्चों के माता-पिता शिक्षक की मदद से निर्णय करते हैं कि स्कूल में क्या करना है। मेरा विचार है कि इन स्कूलों को सामुदायिक स्कूल भी बना सकते हैं।

राजस्थान में बजट के समय वसुंधरा राजे ने एक योजना शुरू की थी कि शिक्षक का अपना स्कूल होगा। छोटी आबादियों में इस तरह की योजना हो सकती है, जहां कि बच्चे बहुत ज्यादा नहीं हैं और

बड़े स्कूल जहां नहीं आ सकते, पर इस योजना के तहत कहा गया कि जिन आबादियों में स्कूल नहीं है वहां शिक्षक अपना स्कूल चला सकता है। जमीन और स्कूल चलाने का पैसा सरकार देगी। स्कूल चलाने के खर्चे वाउचर के माध्यम से दिए जाएंगे। ये वास्तव में सामुदायिक स्कूल ही हैं।

अभी मेरी मुलाकात जम्मू कश्मीर के राज्यपाल से हुई। उनकी चिन्ता थी कि पलायन करने वाले समुदाय के बच्चों की शिक्षा कैसे की जाए। मेरा सुझाव था कि वहां पर वाउचर व्यवस्था से स्कूल चलाए जा सकते हैं। उस समुदाय में एकाध व्यक्ति ऐसे जरूर होंगे जो कि पढ़ा सकते हैं। हम समुदाय के साथ ही पलायन करने वाले स्कूल की व्यवस्था कर सकते हैं। शिक्षकों की आय वाउचर से हो सकती है। शिक्षा की बात अच्छी नौकरी के लिए की जाती है। यदि किसी को अच्छी नौकरी चाहिए तो शिक्षित होना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि शिक्षा रोजगार का एक जरिया है। जो बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं उनके लिए शिक्षक लगाने पड़ेंगे और इसके माध्यम से बेरोजगार युवकों के लिए शिक्षा में रोजगार के अवसर दिए जा सकते हैं। शिक्षक के अपने स्कूल का विचार भी यही है। शिक्षक अपना स्कूल खोल सकता है और यदि ज्यादा बच्चे आ गए तो वह दो-तीन शिक्षक और रख सकता है और खुद प्रिंसिपल बन सकता है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित बेरोजगार युवकों की समस्या से भी निजात मिल सकती है। ये शिक्षित बेरोजगार न तो सामान्य श्रम कर सकते हैं और न ही ये इतने शिक्षित हैं कि इन्हें अच्छी नौकरी मिल सके। ये बेरोजगार युवक शिक्षक बन सकते हैं।

प्रश्न : आपने वाउचर प्रणाली और स्कूल चुनने की स्वतंत्रता की बात की है। मेरे हिसाब से, किसी भी तरह के चुनाव के लिए दो बातें होना आवश्यक है। एक, चुनने के लिए विकल्प और दूसरे, चुनने का विवेक। इतने विकल्प हों कि बेहतर को चुना जा सके और यहां गुणवत्ता का सवाल फिर से आता है। दूसरी तरफ उसकी गुणवत्ता की परख करने की क्षमता होनी चाहिए। आपने कहा कि गुणवत्ता की समझ पर अभी बुद्धिजीवी एकमत नहीं हैं तो क्या लगता है कि बच्चों के माता-पिता और खासतौर से देहाती समाजों में, जहां कि शिक्षा सही प्रकार पहुंच भी नहीं पाई है, वे गुणवत्ता को सही मायने में परख पाएंगे ?

उत्तर : ये वही तो देहाती माता-पिता हैं जो हमारे देश को चलाते हैं। आप ही बताएं कि वोट कौन डालता है, हम आप तो वोट देने जाते नहीं हैं। यही लोग नेता चुनते हैं और जिनको ये चुनते हैं वे हमारा देश चलाते हैं। और हमारा देश तो चल रहा है ठीक से। मेरा तर्क है कि हम असाक्षर और अशिक्षित ग्रामीण जनता को देश के शासन चलाने के लिए नेता चुनने का अधिकार देते हैं और उनके

निर्णय पर भरोसा करते हैं। सीताराम येचुरी के यह कहने के बावजूद कि गुजरात के लोगों को वोट देना नहीं आता, हम यह तो नहीं कहते कि लोगों से वोट का अधिकार ही छीन लेना चाहिए। हम असहमत हो सकते हैं कि इस व्यक्ति का चुनाव ठीक नहीं हुआ लेकिन फिर भी हम वोट के अधिकार को छीनने की बात नहीं करते। हम ऐसा ही शिक्षा के क्षेत्र में क्यों नहीं कर सकते। यह सही है कि बुद्धिजीवी शिक्षा की गुणवत्ता को लेकर सहमत नहीं हैं लेकिन ग्रामीण लोग यह तो जानते हैं कि शिक्षक आ रहा है या नहीं और पढ़ा रहा है या नहीं। स्कूल चुनने को लेकर उन पर अविश्वास क्यों करें जबकि इसमें उनका खुद का हित है क्योंकि यह उनके बच्चों के भविष्य से सीधा जुड़ा हुआ है।

प्रश्न : जैसे ही स्कूल चुनने की स्वतंत्रता की बात करते हैं तो यह भी एक सवाल है कि सभी को समान गुणवत्ता वाली शिक्षा मिलनी चाहिए। अभी स्कूलों में इतना भेद है कि निजी स्कूलों में भी डीपीएस से लेकर हर गली-मौहल्ले तक के स्कूल हैं। क्या यह स्तरीकृत शिक्षा व्यवस्था समाज में असमता को बढ़ावा नहीं देगी ? क्या हम समाज में असमता को बढ़ावा देने वाली शिक्षा को लाना चाहते हैं ?

उत्तर : सामान्य रूप से हम शिक्षा को फैक्ट्री उत्पाद के मॉडल के रूप में समझते हैं कि सभी को एक तरह की शिक्षा दी जाए। हम समता की बात कैसे करते हैं ? हमारे हर स्कूल का भवन, कमरों का आकार, रंग, खिड़की और दरवाजे आदि-आदि एक जैसे होंगे। यानी सब चीजों में समानता होगी। यह हमारे नियंत्रण में भी होता है और यह हम कर सकते हैं। हम यह भी तय कर सकते हैं कि हर स्कूल में शिक्षक की योग्यताएं क्या होंगी। लेकिन इसके बाद भी एक शिक्षक कक्षा में क्या करेगा इसकी कोई गारंटी नहीं है। वास्तव में कक्षा कक्षीय प्रक्रियाएं तो एक समान नहीं होंगी। किन्हीं भी देशों में ऐसा नहीं हुआ है कि शिक्षा समान हो गई हो।

प्रश्न : लेकिन यह तो तय किया जा सकता है कि शिक्षाक्रम यह होगा, पाठ्यक्रम यह होगा, पाठ्यपुस्तकें ऐसी होंगी और ये कुछ गतिविधियां हो सकती हैं। शिक्षा की गुणवत्ता इन सब चीजों पर निर्भर करती है। अब इन चीजों पर कौन शिक्षक कैसे काम करेगा इसका फर्क तो रहेगा। आपने अपने किसी लेख में कहा है कि शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम या पाठ्यपुस्तकों आदि के बंधन नहीं होने चाहिए और हरेक स्कूल अपने लिए इन्हें तय कर सकता है। जैसे ही इस खुलेपन की बात करते हैं, तो संभवतः मंहगे निजी स्कूल बेहतर शिक्षा दे पाएं लेकिन क्या दसवीं या ग्यारहवीं पास शिक्षक इन चीजों के बारे में निर्णय कर पाएंगे ? क्या ऐसी शिक्षा समाज में असामनता नहीं बढ़ाएगी ?

उत्तर : इसे देखने के दो तरीके हो सकते हैं। एक तो यह कि आज हमने सब कुछ बनाया हुआ है। एनसीईआरटी ने शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें बना दी हैं। शिक्षकों के लिए भी चीजें निर्धारित कर दी हैं। बी.एड. की अवधि और पाठ्यक्रम भी तय कर दिया है। लेकिन इसके बावजूद क्या सभी शालाओं में एक जैसी शिक्षा हो रही है ? यह सब करने के बावजूद समान शिक्षा तो होने वाली नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि हमने सभी चीजों को खुला छोड़ दिया कि किसी भी तरह का शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें और परीक्षा प्रणाली नहीं होगी और जो करना है वह वे ही तय करें। ऐसा हमने और काफी जगहों पर किया है। ऐसा हमने खाने के बारे में किया है। राजमा चावल की कोई एक सरल परिभाषा नहीं है। दो व्यक्तियों के राजमा चावल अलग-अलग हो सकते हैं लेकिन हैं तो वे राजमा चावल ही। फिर भी हम राजमा चावल और डोसा को एक नहीं मानते। ऐसा भी नहीं होता कि मैं राजमा चावल बनाकर उसे डोसा के नाम से बेच दूं। तो जहां-जहां स्वतंत्रता है वहां ऐसा नहीं हो रहा है।

इसका दूसरा उदाहरण और देखा जा सकता है जैसे कि लेपटॉप। किन्हीं भी अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के ऐसे नियम नहीं हैं कि इसमें दो यूएसबी पोर्ट होने चाहिए या दो सीरियल पोर्ट या दो ईयर फोन पोर्ट होने चाहिए। फिर भी बाजार में सभी लेपटॉप में ये एक जैसी चीजें ही होती हैं। क्या कोई भी कम्पनी ऐसा लेपटॉप बना सकती है जिसमें कोई भी पोर्ट नहीं हो ? ये सभी जानते हैं कि लोगों को क्या चाहिए। मान लीजिए कि मैं किसी स्कूल का प्रिंसिपल हूं और मुझे अपने मन से तय करने की स्वतंत्रता है तो मैं क्या करूंगा ? मैं यह देखूंगा कि और लोग क्या करते हैं। इसी तरह परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है और जहां-जहां एकरूपता की जरूरत होगी वहां-वहां अपने आप वह आ जाएगी और जहां विविधता की जरूरत है वहां वह भी आ जाएगी। जैसे कि लेपटॉप में साइज, स्क्रीन और रंग आदि अलग-अलग होते हैं फिर भी पोर्ट तो समान ही होते हैं।

प्रश्न : इसका एक पक्ष यह भी है कि बाजार में लेपटॉप का हर तरह का उपभोक्ता है। वहां बेस लाइन और एण्ड लाइन को ध्यान में रखकर गुणवत्ता की बात होती है। लेकिन शिक्षा के संदर्भ में बेस लाइन को ध्यान में रखकर जब मापदण्ड तय किए जाते हैं, और जैसा कि आपने सरकारी स्कूलों में शिक्षकों की नियमितता के एक मापदण्ड की बात की है। लेकिन निजी स्कूलों में जहां शिक्षक नियमित आते हैं तो वहां पर गुणवत्ता के अन्य आयाम हो सकते हैं। अभी ऐसा लग रहा है कि जो बैंचमार्किंग बहुत नीचे हो गई है उसे ध्यान में रखते हुए गुणवत्ता के मापदण्डों की बात हो रही है। जब आप किसी उत्पाद की बात कर रहे हैं तो एक बात होती है

लेकिन शिक्षा की बात थोड़ी इनसे अलग है। जैसे ही शिक्षा में शिक्षक या शिक्षा संस्थान को पूरी तरह से खुला छोड़ने की बात करते हैं तो, मुझे लगता है कि, कहीं ज्यादा क्षमताओं की जरूरत होती है। शिक्षा में खुलापन ज्यादा क्षमतावान लोगों की मांग करता है। यहां ज्यादा समझ, योग्यताओं और ज्यादा पढ़ने-लिखने की मांग होगी। क्या दसवीं या बारहवीं की योग्यता रखने वाला शिक्षक बेहतर शिक्षण करवा पाएगा ? शिक्षा एक सुविचारित प्रक्रिया है। जिसमें पहले सोचना होता है और फिर उसे क्रियान्वित करते हैं। क्या ऐसे शिक्षक शिक्षण प्रक्रियाओं को बेहतर रूप से चला पाएंगे ?

उत्तर : मैंने जिस फैक्ट्री मॉडल की बात की है वही हर जगह आ जाता है। हमारा सोच अक्सर यह होता है कि समता और समान गुणवत्ता एकरूप व्यवस्थाओं से ही आ सकती है कि, शिक्षक की योग्यताएं एक जैसी होनी चाहिए। मेरा मानना है कि हम समान गुणवत्ता को एकरूपता से अर्जित नहीं कर पाएंगे। यह विविधता से आ सकती है और विविधता के अन्त में हमें समान गुणवत्ता मिल सकती है।

प्रश्न : मानक तय करके एकरूपता की बात करना अलग बात है। विविधता से शायद ही कोई इंकार करेगा कि कोई शिक्षक अपनी परिस्थितियों और जरूरत के हिसाब से काम न करे। ऐसे कार्यक्रमों के बारे में कुछ अध्ययन हुए हैं जहां शिक्षकों की योग्यता आठवीं-दसवीं ही थी। ये अध्ययन बताते हैं कि शिक्षक बच्चों के बढ़ते स्तरों पर ठीक से काम नहीं कर पाते हैं। एक समय के बाद शिक्षक बच्चों की जरूरत को पूरा नहीं कर पाता।

उत्तर : देखिए, एक बात तो सामान्य बोध की है। अगर किसी को कॉलेज में पढ़ाना है तो वे आठवीं पास शिक्षक नहीं लेते या स्वतंत्रता है तो दसवीं के लिए छठी पास शिक्षक नहीं लेते। कम से कम वह स्नातक या दसवीं पास तो होगा ही। यह अपने आप ही तय हो जाएगा। जैसे कि हमने कानून में यह तय नहीं किया हुआ है कि राजमा चावल यही होना चाहिए। फिर भी हर जगह वही राजमा चावल मिलता है। उसमें एकरूपता है, बावजूद इसके कि उसमें सबने अलग-अलग चीजें डाली हैं। स्कूल भवन, पाठ्यक्रम और शिक्षक की योग्यता आदि के बारे में एक जैसे मानक तय करके शिक्षा को अंजाम देने की प्रवृत्ति मेरे अनुसार ठीक नहीं है।

प्रश्न : वास्तव में हम जिस गुणवत्ता की बात कर रहे हैं वहां ये मापदण्ड तो हैं ही नहीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन में गुणवत्ता के कम से कम ये मापदण्ड तो नहीं थे। पाठ्यक्रम भी तयशुदा नहीं था। वहां आधारभूत सुविधाओं पर जोर ही नहीं दिया गया। बच्चे पेड़ों के नीचे ही पढ़ते थे।

उत्तर : मैं आपकी बात नहीं कह रहा हूं। मैं देश में सामान्य रूप

से जो हो रहा है उसकी बात कर रहा हूँ।

प्रश्न : लेकिन इसमें एक समस्या है। जैसे ही हम किसी विचार को नीचे उतारते हैं कि, यह तो वास्तविक स्थितियों से मेल ही नहीं खाता है या यह जो बात की जा रही है आदर्शवादी है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी गुणवत्ता और भी नीचे आ जाती है और शिक्षा में यह खासतौर पर देखा गया है। आप जो भी बैचमार्क तय करें वास्तविक स्थिति में गुणवत्ता उससे भी नीचे आ जाती है।

उत्तर : समस्या कहां है ? एक जगह पर बैचमार्किंग करने के बाद हमें पता चलता है कि इसे तो हम प्राप्त ही नहीं कर पा रहे हैं। बुद्धिजीवियों ने बड़ी-बड़ी बातें करके जो तय किया वह पूरा नहीं होता, इसलिए मानकों को नीचे उतारा जाता है। लेकिन हम बैचमार्किंग भी एकरूपता में ही करते हैं। हर स्कूल का बैचमार्क भी अलग तरह का हो सकता है। जहां शिक्षक नहीं आता वहां एक तरह का बैचमार्क होगा और जहां आता है वहां दूसरी तरह का।

प्रश्न : यहां फिर से समता की बात आएगी। क्या हम इस व्यवस्था में सभी को समान गुणवत्ता की शिक्षा दे पाएंगे ?

उत्तर : मेरा ख्याल है कि इसी तरह से हम सभी को समान गुणवत्ता वाली शिक्षा दे पाएंगे। एकरूपता की बात करना मुझे अन्तर्विरोधपूर्ण लगती है।

प्रश्न : वास्तव में एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि हम समाज में शिक्षा की क्या भूमिका देखते हैं ? शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ? आपने इकॉनोमिक्स टाइम्स के दिसम्बर, 2006 के अपने एक लेख में मेघालय और केरल का उदाहरण देते हुए कहा है कि वहां शिक्षा निजी प्रबंधन के हाथ में ज्यादा है इसलिए वहां पर साक्षरता दर ज्यादा है। आगे शायद आपने स्कूलों की गुणवत्ता की भी बात की है। लेकिन शिक्षा को हम जैसे ही साक्षरता से जोड़कर देखते हैं तो शायद अवधारणात्मक रूप से गड़बड़ी कर रहे होते हैं। क्या शिक्षा की उपलब्धियों को साक्षरता आदि से मापा जा सकता है ?

उत्तर : यदि आप 50 लोगों से पूछेंगे कि शिक्षा का ध्येय क्या है तो इसके 100 उत्तर मिलेंगे। हम कभी भी इन पर सहमत नहीं हो सकते। यदि आप माता-पिता से पूछें कि शिक्षा का ध्येय क्या है तो पता चलेगा कि सभी अलग-अलग तरह से सोचते हैं। लोग कहते हैं कि हमें नौकरी चाहिए। यदि नौकरी नहीं मिली तो शिक्षा का फायदा क्या है। बहुत से लोगों के लिए शिक्षा नौकरी का जरिया है। हम लोग मानते हैं कि नौकरी तो एक चीज है इसके अलावा भी बहुत-सी चीजें हैं। हम कभी-भी शिक्षा के उद्देश्यों की एक परिभाषा तय नहीं कर पाएंगे।

प्रश्न : लेकिन जैसे ही इस पर बौद्धिक विमर्श में जाते हैं तो इस सवाल

को खोलना पड़ता है। यदि शिक्षा से नौकरी मिलने के बाद कोई व्यक्ति मूल्य रहित हो, अंधविश्वासों में यकीन करता हो, दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं हो और अपनी ही स्वार्थ पूर्ति में लगा रहे तो क्या हम इसे उचित शिक्षा मानेंगे ? क्या शिक्षा के विमर्श में सामाजिक विमर्श को नहीं लाना होगा ?

उत्तर : सामाजिक विमर्श में इस तरह से बातें करते-करते विचारों में परिवर्तन आता है। यही बौद्धिक और सामाजिक प्रगति का तरीका है। मेरा कहना है कि शिक्षा का कोई एक लक्ष्य तय करके हम भले की जगह नुकसान ही करेंगे। मेरा मानना है कि लोगों को ज्यादा स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इस स्वतंत्रता, बहस और विमर्श के माध्यम से हम कहीं शिक्षा के ज्यादा बेहतर लक्ष्यों पर पहुंच सकते हैं। मैं स्वतः स्फूर्त व्यवस्था में यकीन करता हूँ। सेना की तरह नियम बनाने से बेहतर है कि व्यवस्था स्वतः कायम की जाए। हमारी जिन्दगी में भी हमने सारी चीजें कहां तय कर रखी हैं। अब चप्पल क्या है ? यह हमने कहां तय कर रखा है। फिर भी पूरी दुनिया चलती है। कोई समस्या नहीं है तो फिर हम शिक्षा को क्यों परिभाषित करना चाहते हैं !

प्रश्न : मुझे लगता है कि जब आप यथार्थ को ध्यान में रखकर किसी विचार पर चर्चा करेंगे तो वह एक तरह की बातचीत होगी। लेकिन जैसे ही हम दार्शनिक विमर्श में जाएंगे तो सवाल खड़े होंगे। शिक्षा दार्शनिक जॉन डिवी ने अपने लेखन में कहते हैं कि शिक्षा कोई ऐसी चीज नहीं है कि कोई भी उठकर पढ़ाने लग जाए। वे कहते हैं कि शिक्षा बहुत ही सोच समझ कर किए जाना वाला काम है। इससे पहले सोचना होता है कि क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं ? शिक्षा एक सुविचारित प्रक्रिया है। यदि वह सुविचारित नहीं है तो कम से कम शिक्षा तो नहीं होगी। और यह भी स्पष्ट है कि शिक्षा की सामाजिक भूमिका भी होती है।

आजकल इस बात का चलन कम है लेकिन 10-15 साल पहले तक शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का जरिया माना जाता था। शिक्षा को बौद्धिक चिन्तन के लिए आवश्यक माना जाता था। यदि हम शिक्षा से इन चीजों को हटा देंगे तो शिक्षा का सारतत्व ही खत्म हो जाएगा। यदि सब कुछ खुला है तो शायद शिक्षा अपने मूल से भटक जाएगी। फिर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का क्या होगा ?

उत्तर : जो भी शिक्षा दार्शनिक या दार्शनिक रहे हैं, जॉन डिवी उनमें से एक हैं, उनके मन में आदर्श समाज का एक विचार रहा है कि अच्छा समाज क्या है। हरेक ने शिक्षा को उसे प्राप्त करने के रास्ते के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश की है। हर दार्शनिक के मन में अच्छे समाज की तस्वीर होती है, उससे सहमत-असहमत होना अलग बात है। मैं इस बात से बहुत असहमत हूँ कि पहले से शिक्षा

के उद्देश्यों को परिभाषित किया जाए। क्योंकि इसमें समस्या है कि हर कोई अपने हिसाब से समाज को बनाना या मोड़ना चाहता है। मैं ऐसा सोचता हूँ, इसलिए ऐसा होना चाहिए। यह अपने विचारों को सभी पर थोपना है और इसके लिए शिक्षा को एक अच्छे उपकरण की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। मैं दार्शनिकों की तुलना हिटलर या स्तालिन से नहीं करना चाहता लेकिन हरेक तानाशाह ने शिक्षा प्रणाली को अगली पीढ़ी के नागरिकों पर अपने विचारों के थोपने के लिए इस्तेमाल किया है। जॉन डिवी तानाशाह नहीं हैं लेकिन वह भी समान रास्ते पर हैं। इसलिए शिक्षाविद् या दार्शनिक मेरे हिसाब से खतरनाक हैं। यह अलोकतांत्रिक और विध्वंसक प्रवृत्ति है। हिटलर और स्तालिन जिसे नहीं कर पाए दुर्भाग्य से कृष्ण कुमार जी कर सकते हैं।

प्रश्न : लेकिन शिक्षाशास्त्री और शिक्षा दार्शनिक तो यह कहते हैं कि बिना किसी समाज की कल्पना किए शिक्षा हो ही नहीं सकती। यदि शिक्षा में किसी समाज की कल्पना नहीं है तो फिर वह शिक्षा नहीं होगी। वैसे भी किसी भी तरह की शिक्षा व्यवस्था एक समाज की धारणा को अन्तर्निहित किए होती ही है।

उत्तर : आप पश्चिमी देशों का इतिहास देखिए। गांधी जी ने ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था का विरोध किया था, गांधी जी खुद बनिया थे लेकिन उनकी एक पंक्ति से मैं आश्चर्यचकित हुआ, उनका कहना था कि ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था जिस शिक्षा प्रणाली को लाना चाहती है वह इतनी खर्चीली है कि मेरे देशवासी कभी-भी शिक्षित नहीं हो पाएंगे। हमारी जो शिक्षा व्यवस्था थी वह बहुत ही कम खर्चीली थी और इस तरह से बहुत ही लोकतांत्रिक थी। वह ज्यादा लोगों तक पहुंच सकती थी। ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था की गांधी जी की आलोचना के पीछे यही तर्क था कि ब्रिटिश कानून में शिक्षक की शर्तें तय थीं। शिक्षक बनने के लिए कॉलेज पूरा करके दो वर्ष तक बीएड करना मंहगा व्यवसाय ही है। इस तरह से समस्त जनता को शिक्षित करना संभव नहीं हो सकता। लेकिन हमारे यहां तो कोई भी शिक्षक बन सकता था। कपड़े पहने और एक लेबल शिक्षक का लगा दिया और वह शिक्षक बन जाता था। यह व्यवस्था कैसे काम करती थी।

ब्रिटिश साम्राज्य के आने से पहले हमारे यहां पीयर लर्निंग की एक व्यवस्था थी, इस पर सभी सहमत नहीं हैं फिर भी बहस के लिए तो है ही। एक हेडमास्टर होता था। वह चार-पांच बच्चों को तैयार करता था और फिर वे बच्चे 10-12 बच्चों को पढ़ाते थे। इस तरह एक शिक्षक के माध्यम से करीब 250-300 बच्चों को पढ़ाते थे। इस तरह से शिक्षा देश के अन्दर फैल रही थी। अंग्रेजों ने बताया कि यह सब तो बकवास है। एक बच्चा शिक्षक कैसे बन सकता है और एक शिक्षक इतने बच्चों को कैसे पढ़ा सकता है। 30-40-50 बच्चे

हो सकते हैं, इससे ज्यादा कैसे हो सकते हैं। यह अंग्रेजों ने प्रस्तावित किया था और गांधी जी ने इसका विरोध किया था। दुर्भाग्य से हम शिक्षा के ब्रिटिश मॉडल में विश्वास करने के लिए तैयार हो गए हैं कि स्कूल, शिक्षक, पाठ्यक्रम या स्कूल भवन ऐसा होना चाहिए। मैं गांधी जी के तमाम विचारों से असहमत हूँ लेकिन यह विचार सही लगता है। मैं तो यह भी कहना चाहूंगा कि इस तरह का मॉडल न सिर्फ भारत के लिए बल्कि किसी भी देश के लिए गलत है।

प्रश्न : आप जो कह रहे हैं और सार्वजनिक-निजी साझेदारी का जो विचार है वह अपनी एक राजनैतिक विचारधारा है, और मैंने यह आपके लेखों को पढ़ते हुए भी महसूस किया है। साररूप में यह विचारधारा सभी चीजों को निजीकरण की तरफ ले जाना चाहती है। जिसका मानना है कि यदि व्यवस्थाएं निजीकृत होंगी तो उनकी गुणवत्ता बेहतर होगी। लेकिन इसमें समस्या यह है कि समाज में प्रत्येक आदमी के कुछ बुनियादी अधिकार होते हैं और इन अधिकारों की पूर्ति बिना शोषण के होनी चाहिए। यदि शिक्षा का निजीकरण होगा तो क्या व्यक्ति के बुनियादी अधिकार प्रभावित नहीं होंगे ? क्या निजी संस्थानों के हित व्यावसायिक हितों से प्रभावित नहीं होंगे ?

उत्तर : लेकिन क्या आज ऐसा हो रहा है ? क्या आज गरीब देशवासी शिक्षा पा रहे हैं ? क्या वे शिक्षा पा सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि हम आदर्श के रूप में तो मानते हैं कि सबके अधिकार हैं। हमने शिक्षा को भी बुनियादी अधिकार बना दिया है। लेकिन क्या पिछले तीन-चार सालों में शिक्षा का मौलिक अधिकार बनने के बाद किसी की जीवन स्थितियों में बेहतर हुई है ? कुछ बातें सैद्धान्तिक हैं जैसे कि बिना शोषण के व्यक्ति को अधिकार मिलने चाहिए। लेकिन क्या ये मिल रहे हैं ? मेरा मानना है कि सार्वजनिक-निजी साझेदारी या वाउचर प्रणाली सही मायने में इस अधिकार को दे रहा है। आज अमीर के पास किसी भी स्कूल में अपने बच्चे को पढ़ाने का अधिकार है लेकिन गरीब के पास तो यह अधिकार नहीं है। ऐसी व्यवस्था बनाने की जरूरत है जिससे गरीबों को भी यह अधिकार मिले। फिर निजीकरण होता है, तो हो जाए। हम इस बात से ताल्लुक क्यों रखते हैं कि वह अधिकार कहां मिल रहा है। यदि यह सरकारी स्कूल या निजी स्कूल में मिल रहा है तो इससे हमें दिक्कत क्यों है। यदि अधिकार पर हमारा ध्यान है तो वहीं उसे केन्द्रित करें ? हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि देश में जो अधिकार अमीर को मिल रहा है वही गरीब को भी मिले। जो राशि गरीबों के नाम पर सरकार खर्च कर रही है उससे गरीबों को क्या मिल रहा है ? यदि उसी पैसे से गरीबों के लिए बेहतर शिक्षा मिल सकती है तो हमें इसका विरोध किसी विचारधारा के नाम पर क्यों करना चाहिए! पहले जो गरीब नहीं थे उन्हें भी फोन नहीं मिलता था, आज सभी को क्यों मिल रहा है ?

प्रश्न : इसका एक जवाब निजीकरण है लेकिन दूसरा यह भी है कि एक तकनीक समय के साथ विकसित हुई है।

उत्तर : फिर शिक्षा में ऐसा क्यों है कि हम 200 साल से वही ब्लैक बोर्ड, चॉक, उसी बेंच पर बैठे हुए हैं। हमारी जिन्दगी का हर पहलू कितना बदल चुका है। आप दस साल पहले के और आज के दफ्तरों को देखिए। इन दोनों के बीच कोई समानता नहीं दिखती। ये पूरी तरह बदल चुके हैं लेकिन जो कक्षा-कक्ष 100 साल पहले था वही कि वही आज भी है।

प्रश्न : सवाल यही है कि यदि शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण होगा तो क्या यह अपने निजी हितों को दूर रख पाएगा ?

उत्तर : ऐसा नहीं है कि आज नोकिया गरीबों के लिए सेलफोन नहीं बना रहा है। वो क्यों बना रहा है ? अपने मुनाफे के लिए। अगर एयरटेल अपनी सेवाएं दे रहा है तो मुनाफे के लिए।

प्रश्न : लेकिन आपके पास जो हैण्ड सेट है और मेरे पास जो हैण्ड सेट है उनमें बहुत फर्क है। क्या हम शिक्षा के वितरण को भी असमान करना चाहते हैं ? यदि शिक्षा में असमानता होगी तो क्या वह समाज में असमानता और विषमता को नहीं बढ़ाएगी ? क्या हम समाज को भी असमान और विषमतापूर्ण बनाना चाहते हैं ?

उत्तर : आज किसी भी व्यवस्था को ले लीजिए, जो हमने बनाई है। वहां भी असमानता है। एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम को ले लीजिए। उसी पाठ्यक्रम पर आधारित समान चीजों को दो अलग-अलग जगह के सरकारी स्कूलों में बच्चे पढ़ रहे हैं। इन दोनों स्कूलों में शिक्षा अलग-अलग तरह से ही हो रही है। वहां भी असमानता तो है ही। किसी भी तरह से इन दोनों स्कूलों में शिक्षा एक-सी नहीं होने वाली है।

प्रश्न : शिक्षा के निजीकरण की बहस के साथ ही शिक्षा की गुणवत्ता की बहस भी शुरू हुई है। इसमें यह दिखाने की कोशिश की जा रही है कि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता बहुत गिर चुकी है। ऐसे बहुत से अध्ययन आ रहे हैं। जेम्स टूली ने कुछ अध्ययन किए हैं। उनमें कहा जा रहा है कि सरकारी स्कूलों में बच्चे नहीं सीखते और शिक्षक भी नहीं आते। जबकि दूसरी तरफ कहा जा रहा है कि निजी स्कूलों की शिक्षा गुणवत्तापूर्ण है। पुनः यहां एक सवाल शिक्षा की गुणवत्ता को परिभाषित करने का है।

मुझे इसमें यह दिक्कत लगती है कि जेम्स टूली ने हैदराबाद के चारमीनार इलाके के जिन निजी स्कूलों का अध्ययन किया है और जिसके आधार पर वे निजी स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता की वकालत कर रहे हैं, यदि आप उन स्कूलों के वर्णन को देखें तो वहां पर घनी आबादी की तंग गलियों में, टीन शेड में और छोटे-छोटे

कमरों में चल रहे स्कूल हैं। क्या हम भारत में शिक्षा के नाम पर ऐसे स्कूलों की तस्वीर देखना चाह रहे हैं ? मुझे ऐसा लगता है कि आज शिक्षा की गुणवत्ता का जो विमर्श हो रहा है वह कहीं न कहीं बाजार की जरूरतों और दबावों से उत्पन्न हो रहा है। हमारे पास बाजार की जरूरतों को पूरा करने के लिए मानव संसाधन नहीं है। जिस तरह की नौकरियां आजकल आ रही हैं उनके लिए तैयार मानव संसाधन हमारे पास नहीं है। यहां बजाए शिक्षा की गुणवत्ता को परिभाषित करने के बाजार की जरूरतों को पूरा करने के लिए शिक्षा को माध्यम बना रहे हैं। क्या शिक्षा काम सिर्फ बाजार की जरूरतों को पूरा करना भर है ?

उत्तर : सवाल यह है कि बाजार है क्या चीज ? आप तो ऐसे कह रहे हैं कि बाजार कोई बाहर की चीज है, कि जैसे वह ऊपर से आता है और अपने आप कुछ करता चला जाता है। हम लोग ही तो बाजार हैं। आप कुछ खरीदते हैं और कोई आदमी उसे बेचता है। यही तो बाजार है। मान लीजिए कि एक बीपीओ में व्यक्ति चाहिए जो ऐसे हों कि उन्हें प्रशिक्षित नहीं करना पड़े। बच्चों के माता-पिता से पूछें तो उन्हें एक नौकरी चाहिए। बाजार तो एक ढाबे के समान है जिसे हम मिलकर चला रहे हैं। यह मानना कि बाजार कोई बाहर की चीज है और वह हमारे अच्छे समाज और देश में कोई गड़बड़ी कर रहा है, ठीक नहीं है। हम बाजार से बाहर नहीं बैठे हैं। दूसरी बात है कि यदि हम ही बाजार हैं और हम ही ऐसा चाहते हैं तो इसमें गलती क्या है ?

प्रश्न : देखिए, शिक्षा की दोहरी भूमिका से कोई इंकार नहीं कर सकता। एक, समाज की कुछ जरूरतों को पूरा करने के लिए शिक्षा की जरूरत है जिसमें कि रोजगार और उत्पादन के काम आते हैं और शिक्षा इसके लिए मानव संसाधन तैयार करती है लेकिन दूसरी तरफ इसके अतिरिक्त भी शिक्षा में कुछ चीजें होती हैं जैसे कि व्यक्ति सोचने-समझने वाला हो, संवेदनशील हो या समाज हित को ध्यान में रखने वाला हो। लेकिन अभी जिस तरह की शिक्षा की बात हो रही है उससे लग रहा है कि वह सिर्फ बाजार की जरूरतों को ही पूरा करने वाली हो। इस तरह की शिक्षा में दूसरी तरह की चीजें पीछे छूटने का खतरा है।

उत्तर : क्या ऐसा जरूरी है ? क्या हम इन दोनों को एक साथ नहीं कर सकते ?

प्रश्न : यह एक सवाल है। यदि हम अपने अनुभव से देखें तो ऐसे अनुभव हैं, हमारे एक मित्र ने बताया, कि अभी निजी विश्वविद्यालयों में जो पाठ्यक्रम चल रहे हैं उनमें होटल मैनेजमेंट, व्यवसाय प्रबंधन, कम्प्यूटर इंजिनियरिंग, फैशन डिजाइनिंग आदि हैं। किसी में भी मानविकी, समाज विज्ञान और यहां तक कि विज्ञान के भी पाठ्यक्रम

नहीं हैं। ऐसा लगता है कि बाजार के दबाव में जो पाठ्यक्रम आ रहे हैं वे ज्ञान के चरित्र को भी परिवर्तित कर रहे हैं। यहां ज्ञान का मतलब सिर्फ सिर्फ बाजार की जरूरतों को पूरा करने से है लेकिन ज्ञान का मतलब तो सिर्फ बाजार की जरूरतों को पूरा करना नहीं है। समाज में एक दार्शनिक के काम, संगीतकार या कलाकार के काम का भी अपना महत्त्व है।

उत्तर : मान लीजिए कि आपके पास पैसा है और आपको एक कॉलेज शुरू करना है तो आप क्या-क्या पाठ्यक्रम शुरू करेंगे ? निश्चित रूप से आप देखेंगे कि किस विषय में ज्यादा लोग आएंगे क्योंकि फीस के खर्च से ही आपको कॉलेज चलाना है। यदि आप दर्शनशास्त्र में चलाते हैं तो शायद दो चार आ जाएं, अर्थशास्त्र में भी दस पांच आ जाएंगे। यदि वही पाठ्यक्रम बिजनेस मैनेजमेंट का या होटल मैनेजमेंट को होगा तो शायद ज्यादा विद्यार्थी आ जाएं। यह निर्णय करते हुए आप लोगों के मन को देखते हैं। माता-पिता भी सोचते हैं कि यदि मेरा बेटा डॉक्टरी सीख रहा है तो दस लाख रुपया तक खर्च कर सकते हैं और वही होटल मैनेजमेंट सीख रहा है तो एक लाख ही खर्च करेंगे और यदि अर्थशास्त्र सीख रहा है तो वे देखेंगे कि इसमें पैसा खर्च करने से कोई फायदा नहीं है। यह सोच तो आपने नहीं बनाई। कोई संस्थान समाज की जरूरतों को ध्यान में रखकर चलाया जाता है। यह बाजार की मांग और पूर्ति के सिद्धान्त से ही तय होता है। आप दबाव डालकर किसी की सोच में परिवर्तन नहीं कर सकते। यदि आप बदलाव ही करना चाहते हैं तो कानून में बदलाव करिए कि भारत में कोई भी मेडिकल कॉलेज बिना सरकार की इजाजत के नहीं खुलेगा। दर्शनशास्त्र अच्छा विषय है इसके लिए विद्यार्थियों और उनके माता-पिता का मन बदलना पड़ेगा। व्यवसायी तो सिर्फ इसे देखते हैं कि समाज किस चीज को चाहता है। अब यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि व्यवसायियों की वजह से ऐसा हो रहा है। इससे यह संदेश मिल रहा है कि हमारे यहां के लोग मेडिकल में ज्यादा रुचि रखते हैं, दर्शनशास्त्र में नहीं रखते। ये खराब संदेश हो सकता है लेकिन इसके लिए व्यवसायियों को दोष क्यों दिया जाए!

प्रश्न : यह तो सही है कि व्यवसायी इसके बारे में क्यों सोचे। लेकिन इसीलिए शिक्षा को इससे अलग रखने के लिए कहा जा है क्योंकि इसी अदूरदर्शिता से शिक्षा को बचाने की बात है। शिक्षा का व्यापक समाज के हितों से दूर हटने की संभावना है। यदि शिक्षा में पूरी तरह से व्यावसायिक हित वाले लोग ही आएंगे तो हम व्यापक सामाजिक मुद्दों को शायद शिक्षा से अलग कर देंगे।

उत्तर : यदि हम कुछ देशों की तरफ देखें जहां कि मुख्यतः निजीकृत शिक्षा व्यवस्था है। ऐसे बहुत से देश हैं जहां कॉलेज शिक्षा निजीकृत

है। वहां भी सरकार पूरी तरह से बाहर नहीं है। हावर्ड, एमआइटी या स्टेनफर्ड निजी यूनिवर्सिटी हैं। क्या वे सिर्फ बिजनेस कोर्स को ही चलाते हैं ? वहां पहला पाठ्यक्रम दर्शनशास्त्र नहीं था। ऐसा क्यों हुआ ? उन्होंने अपनी शुरुआत बाजार की मांग पर, जिसके लिए लोग पैसा खर्च कर सकते थे, उस से की। जब आप पहला कॉलेज शुरू करते हैं तो सोचते हैं कि कौनसा विषय चल सकता है। फिर आप सोच सकते हैं कि अन्य विषय भी चलाए जाएं जैसे कि दर्शनशास्त्र। यह तभी संभव है जब मुझे पहले वाले पाठ्यक्रम चलाने की अनुमति मिली। लेकिन यह तभी हुआ जब लोगों ने शुरू में अन्य पाठ्यक्रमों को बर्दाश्त किया। अभी हम जो पहला चरण ले रहे हैं वह हमें पसंद नहीं है। इसलिए उसे वहीं रोक देना चाहते हैं। यही समस्या है कि हम शुरू में इन कदमों को आगे बढ़ने नहीं देना चाहते। एयर लाइन्स में यही हुआ। जब निजी कम्पनियों को अनुमति मिली तो यह विश्वास नहीं था कि ये चल पाएंगी। शुरू में एकाद कम्पनी डूब भी गई। यदि उस समय हम यह सोचते रह जाते कि एयर लाइन्स में निजी कम्पनी सक्षम नहीं हैं तो आज यह संभव नहीं होता। पहला अनुभव खराब था क्योंकि निजी क्षेत्र कोई भगवान तो है नहीं। हमें तमाम क्षेत्रों को खुला छोड़ना चाहिए। शिक्षा में भी हमें धैर्य रखना चाहिए। निजी प्रयासों को अनुमति मिलनी चाहिए। यदि आप महाराष्ट्र में देखें तो वहां पर राजनेता बहुत-सी निजी शिक्षा संस्थाएं चला रहे हैं। क्या वे शिक्षाविद् हैं ? हमने ऐसे नियम बनाए हैं कि जिसकी सांठगांठ या सत्ता है, वे ही अपनी संस्था खोल सकते हैं। शिक्षा में रुचि रखने वाले लोग संस्था नहीं चला सकते हैं। हमने गुणवत्ता, समता आदि के नाम जिस तरह के नियम बनाए हैं उनसे तो ऐसे ही लोग आएंगे।

प्रश्न : हमारे समाज में बहुत से मुद्दे हैं जैसे कि जेण्डर, जाति, सांप्रदायिकता या दलितों की स्थिति; हमें लगता है कि शिक्षा के माध्यम से इन पर काम होना चाहिए। यदि शिक्षा में निजीकरण की इजाजत मिलती है तो क्या निजी संस्थान इन सामाजिक मुद्दों को संबोधित करेंगे ?

उत्तर : सिर्फ शिक्षा व्यवस्था ही सभी सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि हमने शिक्षा को ठीक कर दिया तो समाज की हर समस्या ठीक हो जाएगी-सती प्रथा, दहेज प्रथा या बाल मजदूरी आदि-आदि। शिक्षा से सभी सामाजिक समस्याएं ठीक हो जाएंगी, यह सही नहीं है।

प्रश्न : कुछ नामी निजी स्कूलों पर हमारे एक साथी ने जयपुर में एक अध्ययन किया है। वे बताते हैं कि इन स्कूलों में दलित, अल्पसंख्यक एवं अनुसूचित जाति और जनजाति के विद्यार्थी नहीं के बराबर हैं। इन वर्गों के शिक्षक भी वहां नहीं हैं। क्या यह इन

स्कूलों के चरित्र की ओर इशारा नहीं करता ?

उत्तर : इस समस्या से निपटने के लिए आरक्षण की बात हो रही है। यह सोचा जा रहा है कि ये स्कूल गरीब इलाकों से कुछ बच्चे अपने स्कूलों में भर्ती करें। वहां भी कुछ सवाल हैं कि मान लीजिए कि एक बच्चा अमीर परिवार से आ रहा है और दूसरा गरीब से तो ये बच्चे कैसे समायोजित होंगे ? लेकिन वाउचर की सबसे बड़ी ताकत यही है कि इससे कुछ ही बच्चों को यह अधिकार नहीं मिल रहा है कि वे अभिजात निजी स्कूलों में जा सकें बल्कि इसके माध्यम से अभिजात निजी स्कूलों को गरीब इलाकों में लाना है। हम यह नहीं चाहते कि गरीब बच्चे अभिजात स्कूलों में जाएं बल्कि अभिजात स्कूल गरीब आबादी में जाएं। अभिजात स्कूल नहीं जाएंगे तो उनके भाई जरूर जाएंगे। क्योंकि पैसा ही समानता पैदा करने का एक कारक है। यदि अभिजात निजी स्कूलों को गरीब आबादी में पैसा मिलेगा तो वे वहां भी चले जाएंगे। ऐसा अवसर वाउचर दे रहा है।

प्रश्न : सार्वजनिक-निजी साझेदारी में कुछ व्यवहारिक समस्याएं भी हैं। शिक्षा में जो साझेदार हैं वे बड़े शहरों के इर्दगिर्द अपना कार्य क्षेत्र चुन रहे हैं। आंध्र प्रदेश में ऐसा हुआ है। राजस्थान में भी ऐसा देखा जा सकता है। इनकी रुचि दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं है। इस तरह के इनके हित किस तरफ संकेत करते हैं ?

उत्तर : इसमें दो तरह की चीजें हैं। एक, सरकार की अपनी नीति क्या है ? यदि सरकार किसी संस्था को विकल्प देती है कि आप चुन लीजिए, कौनसे स्कूल चाहिए। तो यह स्वभाविक है कि ये संस्थाएं शहर के आसपास के ही स्कूल चुनेंगी, वे क्यों दूर जाएंगी। यदि किसी संस्था के सरकारी स्कूलों के साथ काम करना है तो सरकार यह नीति बना सकती है कि कुछ स्कूल शहर में या शहर के नजदीक और कुछ दूर-दराज के क्षेत्रों में लेने होंगे। यह समस्या बिना सोचे समझे काम करने की है।

प्रश्न : आपने अपने किसी लेख में कहा है कि बड़े शहरों में एक बच्चे की शिक्षा पर एक वर्ष में लगभग 10 से 12 हजार रुपये का खर्च आता है। यदि दिल्ली या मुंबई है तो यह करीब 20 हजार रुपये तक हो जाता है। सरकार का कहना है कि यह औसत 4000 हजार है।

उत्तर : सरकार शहरी और ग्रामीण को मिलाकर कह रही है यह औसत 4000 है। लेकिन गांव और शहर के खर्च में बहुत फर्क है।

प्रश्न : अभी तक की चर्चा में आपका मुख्य तर्क शिक्षा के निजीकरण के पक्ष में है। यदि हम शिक्षा पर प्रति बच्चा खर्च को देखें तो क्या वंचित वर्ग के बच्चों को शिक्षा मुहैया हो पाएगी ? जबकि एक तरफ

सभी को मुफ्त शिक्षा मुहैया कराना संवैधानिक दायित्व है।

उत्तर : वाउचर का विचार यही है कि जिन माता-पिताओं के पास पैसा नहीं है, सरकार उन्हें वाउचर देगी। जो माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा स्वयं करा सकते हैं वे अपना पैसा दें। इससे समानता आएगी क्योंकि गरीब और अमीर दोनों के पास चुनाव की स्वतंत्रता होगी।

प्रश्न : एक दार्शनिक हैं हैरी ब्रिजहाउस, उन्होंने शिक्षा के निजीकरण और वाउचर प्रणाली की कड़ी आलोचना की है। वे कहते हैं कि हम राज्य की अपेक्षा बाजार पर कुछ ज्यादा ही यकीन करके चल रहे हैं जो कि मुनाफे के लिए काम करता है। क्या हम बाजार पर कुछ ज्यादा भरोसा नहीं करके चल रहे हैं ?

उत्तर : ऐसा नहीं होने वाला है कि वाउचर प्रणाली आ गई तो सभी सरकारी स्कूल बंद हो जाएंगे। यदि खुली प्रतिस्पर्धा शिक्षा में आती है तो यह संभव है कि सरकारी स्कूल में बच्चे ज्यादा जाएं। क्योंकि निजी स्कूलों के पास न तो इतने बड़े भवन हैं, न ही खेल का मैदान है जिस तरह सरकारी स्कूल के पास हैं। वहां शिक्षक भी निजी स्कूल की बनिस्पत ज्यादा योग्य हैं। यदि इन दोनों स्कूलों में प्रतिस्पर्धा होती है तो माता-पिता कौनसे स्कूल में अपने बच्चों को भेजेंगे ? वास्तव में सरकारी स्कूलों के पास वे सब चीजें हैं जिनसे कि वे निजी स्कूलों को पीछे छोड़ सकें लेकिन वे ऐसा नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि सरकारी व्यवस्था ही ऐसी है। यदि वाउचर दस प्रतिशत बच्चों को भी मिल गया तो सरकारी स्कूलों पर इतना दबाव बनेगा कि वे अपनी स्थिति सुधारने का प्रयास करेंगे। मेरा मानना है कि वाउचर प्रणाली से हम वास्तव में दबाव बनाने में सक्षम होंगे ताकि सरकारी व्यवस्था में सही मायने में सुधार के प्रयास करें। कोठारी कमीशन से लेकर अभी तक जो बातें हुई हैं, सबको पता है कुछ नहीं हुआ है। जब तक खुली प्रतिस्पर्धा इस क्षेत्र में नहीं आएगी तब तक इस क्षेत्र में कुछ नहीं होने वाला है।

प्रश्न : मुझे अन्ततः यही लगता है, शिक्षा एक सुविचारित और सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने वाली प्रक्रिया है। शिक्षा के सामाजिक सरोकार होते हैं और बिना इन सरोकारों के शिक्षा सारहीन होगी और उन्हीं से शिक्षा के उद्देश्य तय होते हैं।

उत्तर : अगर आप यह चाहते हैं कि शिक्षा का यह मकसद होना चाहिए, तो ठीक है। लेकिन यह स्वतंत्रता तो सबको होनी चाहिए कि वे अपने स्कूल को कैसे चलाएं। हमारा फोकस मुख्यतः व्यवस्था में बदलाव पर है। ♦